Academe *Journal of Education & Psychology* *ISSN: 2249-040X*
Volume-15, Issue-2, Year-2025 (July-December) *Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.25)*
PP: 420-433 *Journal Website www.academejournal.in*

ग्रामीण जीवन की वास्तविकता और संप्रदायिकताओं का समग्रता से देखने का प्रयास : कथाकार शिवमूर्ति

पुष्पा कुमारी

शोधार्थी

हिन्दी विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा

सारांश :–

समय-काल बढ़ते ही उपन्यास के रचनात्मक समायोजन व सौन्दर्यात्मक व्यवहार में कई परिवर्तन आए। उपन्यास आधुनिक जीवन को उसकी समग्रता में देखने का सबसे विस्तृत प्रयास भी रहा था। वह दूसरी विधाओं की तुलना में मनुष्य जीवन के इने-गिने अंशों से, यूँ ही नहीं गुजर रहा था, समयानुसार प्रक्रिया एवं व्यवहार में अपनी उपस्थिति को विस्तृत और प्रयोगात्मक भी बना रहा था। उपन्यास की अनुभव-दुनिया प्रदेश जीवन को सबसे अधिक निशानेबद्ध करने में काफी हद तक सक्षम रही है। सीमित निजता और स्वत्वमोह को पार करके वह एक प्रदेश के विविध स्वभाव-जीवन को अपने आख्यानों में पिरोकर रखता है और उसे पाठगत वस्तु बनाकर कालातीत अभिलेख छोड़ रखता है। उसमें काल समय की सभी बदलती प्रवृत्तियों की छाप वर्तमान रहती है। इस अर्थ में यह विधा जनजीवन का आईना बन रही थी, अभिलेखीय अंश बन रही थी, परिवर्तित जिंदगी को चित्रित रखने वाला बड़ा कैनवास बन रही थी। एक प्रदेश की धड़कनों व व्यवहारों को समग्र पाठ स्वरूप देने में उपन्यास जैसा कोई दूसरा साहित्यिक माध्यम नहीं है।

मुख्य बिंदु :-

प्रयोगात्मक, विस्तृत, स्वात्वमर्मोह, निशानेबद, अभिलेख, प्रवृत्तियों, कैनवास, प्रतिफलन, लिपिबद्धता, अस्मितावादी, अतिराजनीतिक, बहुलतावादी, मूल्यमहिमा, झुंडबाजी, ध्रुवीकृत, अस्मितावादी, आश्रित, प्रोफेशनलिज्म, कृत्रिमता, सत्ताविमर्श, स्वीकृत, अभिलंब, भावुकत्व, किस्सागोई, बाजारवाद, अशिक्षा।

परिचय :–

एक अर्थ में उपन्यास सिर्फ उपन्यासकार की सांसारिक दृष्टि का ही प्रतिफलन नहीं होता है। साहित्यिक प्रेरणा के विषय समाज देते रहते हैं। पर इस प्रेरणा को सही मायने देना और लिपिबद्धता में अपनीयत दर्ज करना कलाकार का कार्य है। यह स्पष्ट है कि अस्मितावादी विषयों पर चर्चा करते हुए साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक समग्रता हासिल करना चुनौतीपूर्ण है,

© Copyright @ Authors

क्योंकि अक्सर इसके विषय अतिराजनीतिक और एकपक्षीय होते हैं। अस्मिता चिंतन के लिए सराही जाने वाली रचनाओं की सबसे बड़ी दुविधा उसकी वही राजनीतिक दृष्टि सीमा है, जिसके नाम पर उसकी सराहना की जाती है। बहुलतावादी समाज में किसी एक पक्ष की राजनीतिक सत्ता या जातीय अधिकार, व्यापक मूल्यमहिमा और शांतिपूर्ण सामाजिक सहजीवन के पक्ष में नहीं होती। जिस आधार पर सत्ता, झुंडबाजी और राजनीति हासिल होती है, उसी आधार पर लोग ध्रुवीकृत होते जाते हैं। अतः वाचन व विमर्श के लोभ में किसी रचना को अस्मितावादी खेमे में डाल कर उसकी सराहाना के साथ ही, उसे संग्रथित सामाजिक माहौल के अनुरूप देखना और परखना जरूरी है।

सामग्री और विधियां :-

कई प्रदेशों व प्रान्तों में छित्तरे पड़े रहने घर भी जन-नदियों का आपसी मिलन संभव है या उसे संभव बनाना है। साहित्य या रचना यदि विपरीत गति अपनाती है तो उसे सकारात्मक दिशा देना है। साहित्य व रचना जनता के मेलमिलाप का माध्यम भी है। ज्ञान के बिंदुओं को उपन्यास में पिरोते हुए रचनाकार को काल-समय-संदर्भ पर आश्रित विवेक का इस्तेमाल करना है। यह विवेक, उपन्यासकार के साहित्यिक विमर्श को विस्तृत करता है। इस रचनात्मक हस्तक्षेप की विशेषता के नाम पर उपन्यास विधा को अलग पहचान देने वाले लोग हैं। विमर्श की पूरी संभावनाओं के साथ ही उसे अलग कला सृजन की पहचान देनी होगी। संवेग, संवेदना, कल्पना, ज्ञान और कला के सम्मिश्रण में उपन्यास का विस्तार होता है। हिन्दी के उपन्यास क्षेत्र में तमाम प्रशंसाओं, सराहनाओं व अभिभूतताओं के बावजूद लेखन की सीमाएं और ज्ञानात्मक संवेदना में अवरोध दिखता है। शिवमूर्ति के प्रयास उपन्यास के क्षेत्र में इस प्रोफेशनलिज्म की कमी को, एक हद तक ही सही, पूरा करने का भी है। किस्सागोई में वे सुरक्षित रहने के लिए सर्तक हैं तो परिवर्तित समय-संदर्भ का परिप्रेक्ष्य चुनकर, वे उपन्यासकार नामक साहित्यिक सामाजिक संस्था में गतकालीन या तेजी से बदलनेवाली साहित्यिक-सौन्दर्यात्मक महक को परिवर्तित घोषित होता हुआ दिखाना चाहते हैं। "भाषण की संस्कृति अलग थी, है और उसका आविष्कार लिखावट या अधुनातन साहित्यिक संस्कृति में गृहातुर होकर ही उभर आ सकता है। अपने आप में अन्यथा झेलते हुए उसका आविष्कार अधुनातन पीढी के लिए आकर्षक भी रह सकता है।"[1] क्योंकि यह पीढ़ी एक ही ढरें की भाषायी कृत्रिमता की निरंतर शिकार होती जाती है। गाँव कस्बे की कहानियों का उपयोग और प्रचार सदियों से होता आ रहा है। वे उस संस्कृति में सकारात्मक प्रयोग भी शामिल कर रखती हैं जो इस धरती के मनुष्य को अतिजीवन का रास्ता दिखा सकता है। इस सत्य को

© Copyright @ Authors

कथा-संकुलता के माध्यम से बताते हुए शिवमूर्ति हिन्दी में नया औपन्यासिक प्रयोग जोड़ रखते हैं।

कहानी कहते हुए उपन्यासकार अकेला हो सकता है, कभी वह अपने सामाजिक प्रतिनिधान से भी वचित होकर, एकदम अन्य होकर कहानी कहने को बाध्य हो सकता है। पर पाठकीय आकस्मिकताएँ, विशाल अर्थ में मानवीय संवेदनाओं की समानताएँ उसे लोक एवं संसार से मिला देती हैं। देश या राष्ट्र जानता है या उसे वैसा बनाने योग्य कल्पना हर लेखक की भीतरी मंशा है। देश राष्ट्र की सत्तात्मक वृत्तियों व अधिकार लिप्साओं से अलग रहने का इच्छुक होते हुए भी साहित्यकार, जनता के प्रति समर्पित होना चाहता है। पर बराबर यह महसूस करता है कि इस तरह के अलग मायने को प्रतिपादित करने और सत्तात्मक सख्तियों को तोड़ने की भाषाई शक्ति अभी भी साहित्य में सन्निहित नहीं है। इस अधूरेपन के एहसास में वह देश व राष्ट्र की मीमांसा करता रहता है। जिन चीजों को हमने संस्कृति के अवयव माने थे. काल एवं समय गुजरते ही यह पता चलता है कि– "वे वहशीपन के औजार भी होते हैं। उपयोग व प्रयोग के अनुसार उनके रूप आसानी से बदलते हैं। अतः इस प्रसंग में सत्ताविमर्श बनने के लिए उपन्यास को भी दूसरा या कठिन रूप अपनाना होगा। शिवमूर्ति सहित समस्त लेखक, विशेषकर उपन्यासकार आज इस खतरे को उठाते हैं। यहाँ पर यह याद करना है कि काल-समय के समान राष्ट्र-देश भी कोई स्थिर व पुरानी संकल्पना स्वीकृत नहीं है।"[2]

पिछली शती के अंतिम दशकों से उपन्यास विधा का पटल और दखल तेजी से बदल जाने लगा। अंतिम दौर तक आते-आते उसने साहित्य-साहित्येतर द्वन्द्व को मिला दिया और इस द्वन्द्व को ही कई मायनों पर अनुचित ठहरा दिया। साहित्य को जनजीवन का माध्यम और सांसारिक दृष्टि का वाहक बनाने में उपन्यास विधा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उपन्यास को विस्तृत कहानी के बदले कर्तृत्वमहिमा का कारक भी बताया जाता है। कथा के साथ संरचना में भी काफी परिवर्तन नजर आने लगा, जो इसी विधा की गतकालीन परंपरा का अभूतपूर्व विकास था। उपन्यास सभ्यता विमर्श का सशक्त माध्यम है। सतही अर्थों में वह कथा से शुरु हुआ था।पर विपरीत में देखा जाय तो उसी के द्वारा कथाकथन से मुक्ति यात्रा भी संपन्न हुई थी। आज वह ऐसे मुकाम पर पहुँच गया है जिसमें कथा और विमर्श, कल्पना और यथार्थ सबकी विराट विच्छिन्नताएँ धुँधली पड़ गई। जब रचना सार्वजनिक जगत पर अवतरित होती है, प्रचारित होती है तब उसका इतिहास तय हो जाता है, हलांकि यह बताना मुश्किल होता है कि वह सकारात्मक आएगी या नकारात्मक। उपन्यास या कहानी में ही नहीं, अखबारी बयानों व टी वी समाचारों तक में यथार्थ जीवन में टकराने की क्षमता कम होती जा रही है। यथार्थ के अविलम्ब एवं लाइव प्रसारण के कारण कला व साहित्य

© Copyright @ Authors

पर सौन्दर्यात्मक प्रभाव बढ़ता जाता है। हर आख्यान, हर उपन्यास इस अर्थ में एक संघर्ष है। उपन्यासकार और पाठक की दूरी के साथ कहानी और यथार्थ, कला और काल आदि का फासला भी कम होता जा रहा है। पर यह स्वीकार करना है कि उपन्यासों द्वारा पाठकों को आहलाद देने का समय अब भी बाकी पड़ा है। उसकी यही संभावना उसे साहित्यिक खेमे में विशेष रखती है।

"भारतीय इतिहास, हिन्दी संस्कृति एवं राजनीतिक गतिविगतियों कई उपन्यासों के विषय हैं। आगे व पीछे देखने वाले कई चेहरे उपन्यास के क्षेत्र में नवीन भावुकता के सृजन करते थे। परम्परागत कड़ियों के विपक्ष में स्वतन्त्र प्रयास जो आए, उसमें शिवमूर्ति के उपन्यासों का स्थान है। शिवमूर्ति की रचनाएँ परंपरागत भावुकत्व एवं मूल्य चिन्तन के पार जाकर नए स्वत्वानुभवों का विपक्ष खुद रचती हैं। आख्यान और प्रस्तुति में से कई विशेषताएँ अपनाती हैं। किस्सागोई और विषय वितरण में ये हिन्दी की भूमि पर हैं तो तकनीक व वैचारिक ऊर्जा में ये वैश्विक साहित्यिक दुनिया के काफी निकट हैं। भूमण्डलीय संजाल की सुविधा यह है कि उसमें, किसी गाँव या कस्बे वाला कोई भी अपनी उपस्थिति दर्ज कर सकता है। आज के उपन्यासकार, यदि वह पत्रकार भी हैं तो इस सुविधा से सबसे अधिक प्रभावित है। ग्रामीण या कस्बाई कथा को वे अधुनातन तकनीकी में उजागर कर सकते हैं। पत्रकारी छितरापन इन उपन्यासों की संरचनागत खासियत है।"[3]

अन्वेषणात्मक सजगता इनके आख्यान को सुरक्षित नवता की श्रेणी प्रदान करती है।

सामान्य दृष्टि में साम्प्रदायिकता 'त्रिशूल' (1995), दलित-सवर्ण संघर्ष 'तर्पण' (2004), भारतीय किसानों के अतिजीवन की समस्याएँ 'आखिरी छलाँग' (2008) आदि का साहित्यिक वाचन आसान है। आगे के पग में, ये रचनाएं सिर्फ इन विषयों पर केन्द्रित नहीं भी लग सकती हैं। इनका सामान्य ध्येय लोकानुरागी, यथार्थवादी, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक बहसों में गरम रहने वाले विषयों का उभार भी लग सकता है। मगर हर दिन की अखबारी खबरें तथा टी वी में प्रसारित दृश्य-बिंबों से बढ़कर इनका क्या सौन्दर्यात्मक एवं प्रभावकारी योगदानहै, यह सोचने का समय आया है। दुर्घटनाओं तथा दंगों के बाद यह अक्सर पूछा जाता है कि इन पर कोई रचना क्यों नहीं होती है। सोचने पर यह बताया जा सकता है कि इनकी रिपोर्टिंग साहित्य का ध्येय थोड़े ही है। पात्र से बढ़कर प्रमेय व राजनीति से बढ़कर मनुष्य का महत्त्व बढ़ा देना उपन्यास के साहित्यिक कर्तव्य को सुरक्षित रखने की क्रिया भी है। इसी कारण से यह मानी हुई बात है कि सृजनात्मक विधा के रूप में उपन्यास के लेखन के लिए दूसरी विधाओं से बढ़कर विस्तृत वैज्ञानिक एवं तथ्यात्मक अवबोध तथा साहित्यिक व सौन्दर्यात्मक परिचय की जरूरत है।

"मान लेना चाहिए कि उपन्यास विस्तृत पटल की रचना होने से नृवंशशास्त्रीय ऐतिहासिक पाठ के रूप में उसकी उपादेयता है। वह किसी शह, इलाका या जनपद के लोगों में वाचनशक्ति और

© Copyright @ Authors

आस्वादन को जागृत कर सकता है, उन्हें चिंतामग्न कर सकता है। यथार्थ का पुनर्वाचन और पुनरवतरण जब रचनात्मक होता है, तो साहित्य की विधा बन जाता है। शिवमूर्ति का महत्त्व यह है कि उन्होंने पक्ष-विपक्ष के समर्थनों में उलझे रहने के बदले शोधपरक दृष्टि से दोनों को देखने-परखने का प्रयास किया है। हिन्दी उपन्यास की दुनिया में यह प्रयास, उपन्यास-विधा को नए उपलक्ष्यों के साक्षात्कार तक ले जाने वाला है। यही कारण है कि इनके उपन्यास पढ़े जाते हैं, सराहे जाते हैं।"[4]

रचनात्मक प्रयास, समय जाति-वर्ग-वर्ण-भाषा विभाजन करने वाला भी हो सकता है। साथ में सांप्रदायिकता, जड़ों तक घुस कर समय व सन्दर्भानुसार विषवमन करती रहती है। "मूर्त सामाजिक प्रवृत्तियों व व्यवस्थागत परिवर्तनों पर लिखे जानेवाले परंपरागत औपन्यासिक प्रयासों को पात्र केन्द्रित या कृत-केन्द्रित खेमे में आँका या देखा जा सकता है। शिवमूर्ति का कार्य परंपरागत कड़ी को अपने ढंग में प्रक्षेपित करने का ही नहीं था, उसे नए सिरे से वाचित करके नवरासायनिक रचनात्मक प्रयास प्रस्तुत करने का भी था। जिस समाज में स्त्री, दलित आदि के नाम पर अस्मितावादी रचनाएँ निकलती रहती हैं और उन पर जोरदार अस्मितावादी विमर्श खड़ा किया जाता है, उस संस्कृति में पक्ष-विपक्ष की बहस तो आसानी से संभव होती है, स्वस्थ सामाजिकता के लिए अनिवार्य सहूलियत और सरोकारयुक्त संस्कृति की चिंता नहीं होती। शिवमूर्ति इस ओर इशारा करते हैं।"[5] इस अर्थ में 'तर्पण' दलित या सवर्ण पक्षीय कथा नहीं है। कई नामों पर इंसानियत खोकर लड़ने वाले सामाजिक की निरंतर चूकों में एक एपिसोड है। ऐतिहासिक एवं सांप्रदायिक ताकतें समयानुसार मनुष्य को मात्र उसका औजार बनाती हैं। जाति या धर्म पर उसके संकीर्ण एवं सीमित अर्थ में नहीं सोचने वाले इंसानों को भी मात्र जाति-अस्मिता के पुतले बना देती है। कई संदर्भों पर जाति की यह अयाचित अस्मिता को वह ढोता है, उसके अनुभवों को वहन करता है। लिंग, जैविक यथार्थ है तो जाति या धर्म में किसी के जन्म लेने का कोई बौद्धिक आधार नहीं है। इस आधारहीन निर्मिति को उत्तराधुनिक तकनीकी प्रौद्योगिकी के युग में भी अख्तियार करते रहने वाले मानव समुदाय को वैज्ञानिक एवं विवेकशील समाज मानना गलत साबित होता है। मनुष्य एक ऐसा जीव है जो समय व सन्दर्भानुसार अपराध कर सकता है, सोच समझकर गुनाह करता है, काफी समय पहले ही अपराध की योजना बनाता फिरता है। ऐसे कपट और अवसरवादी जानवर, जानवर वर्ग को शर्मिन्दा कर देता है। एक जगह पर वह विश्वग्राम, एकोदर, सहोदर आदि रटते हैं तो दूसरी जगह पर वे जाति या धर्म को बेझिझक उठाकर अपना उल्लू ही सीधा नहीं करता, पूरे समाज में तेजाब छिड़का देता है। इस बात में कोई भी समुदाय पीछे नहीं है। दलित पर लिखते हुए मनुष्य की कमजोरियाँ नहीं देखी जाती हैं, उस तरह की रचनाएँ रची जाती हैं जो राजनैतिक दृष्टि से तेज होती हैं। मनुष्य-स्वत्व की पुनर्व्याख्या

© Copyright @ Authors

पर इस उपन्यास का संकेत जाति वर्ग के परे जाता है जो कई प्रसंगों में अमानवीयता पर स्पष्ट उभर आता है। समकालीन रचनात्मक संकट यह भी है कि तिरस्कृत स्वत्व की स्थापना धीरे-धीरे उसी रास्ते तक पहुँच जाती है जिस रास्ते पर सांप्रदायिक एवं फासीवादी खड़े हुए हैं। यहाँ पर अन्यथा और उपेक्षा मनुष्य मात्र को होती है और जातिवाद एवं सांप्रदायिकता की जीत होती है। "कला एवं साहित्य को पारस्पर्य और मिलनसार चीज बनाने के लिए कम से कम स्वत्ववादी एक भाषणों को छोड़कर आपसी सम्भाषणों को बुलन्द करना है। जैविक साहित्य के सृजन का यही अर्थ है।"[6] शिवमूर्ति की सजगता जैविक प्रसंगों की साहित्यिक उभार को लेकर भी है। वे रचना में ही हिन्दी की हृदयभूमि में घटित होने का अंदाजा छोड़ देते हैं। समय व काल से जुड़े रहने के साथ वे जमीन को भी समेट रखते हैं। साहित्य या कला में थल निर्माण का मतलब उसकी कथा-प्रकृति एवं जैविकता की पुनर्निर्मिति भी है। प्रान्त या 'लॉकल' के सीमित सच को पार करते हुए उपन्यास विधा अपनी सौन्दर्यात्मक निर्मिति में व्यापक रचनात्मक थल निर्माण करती है। पर कथात्मक प्रकरण में वह अपने थल व काल से अलग भी नहीं होती। जातिपांति की छाया से अब भी हिन्दी प्रदेश मुक्त नहीं है। विकास के तमाम दावों के बावजूद आज भी गाँवों व कस्बों में आपको ये सभी चरित्र आसानी से मिल सकते हैं, जिनसे होकर यह उपन्यासकार अपने को रचनात्मक सिद्ध करता है। दलितोद्धार, आरक्षण, शोषण विरोधी योजनाएँ, अल्पसंख्यक उन्नमन की कार्यवाहियों आदि के साथ कृत्रिम एवं औपचारिक कही जाने वाली भाषा और शैली भी कितनी सीमित और कई मायनों पर भड़काऊ या विरोधी बन जाती हैं, इसकी सूचनाएँ भी इनके उपन्यास की अन्तर्लिप्त सच्चाइयाँ हैं।

"उपन्यास विधा की खासियत यह भी है कि वह अपनी ही पूर्ववर्ती कड़ी का तिरस्कार करते हुए आगे बढ़ने की अद्भुत ललक रखती है। आत्मकेन्द्रित व पात्र केन्द्रित परिसर से गंभीर राजनीतिक व विमर्शवादी परिसरों की औपन्यासिक यात्रा इसी का प्रमाण देती है। कई दफा यह यात्रा मूर्त एवं स्पष्ट घटनाओं से प्रेरित एवं नियंत्रित भी है। उपन्यास नामक विधा की यह ज्ञानात्मक यात्रा अनूठी है। इन्सानियत के लिए अनिवार्य भावुकता इससे मूर्त एवं स्पष्ट होती रही। जातिवादी राजनीति, बाजारवादी प्रवृत्तियाँ, किसानों का अस्तित्व संघर्ष आदि के सामने उपन्यास ने अपने आपको व्यतिरिक्त ढंग में प्रस्तुत किया। भाषा और प्रमेय में समकालीन उपन्यास, अनिश्चितताओं से गुजरते हुए भी जीवन पर सकारात्मक हस्तक्षेप का ठोस प्रयास बनता रहा। यथार्थ को, अवसरवादी पक्षधरता छोड़कर उभारने का प्रयास करता रहा। अपने आप में निर्मित नैतिकता को आख्यान में सुरक्षित रखकर इन्होंने अपनी राजनीति का खुलासा किया। इस अर्थ में यह उपन्यास सामान्य अर्थ की दलगत राजनीति के वाहक नहीं हैं, सही अर्थों में ऊँची रहने वाली इंसानी राजनीति का बुलावा बन जाते है।"[7]

© Copyright @ Authors

सही है कि एक ही रचनाकार के विविध रचनात्मक प्रयास होते हैं जो उनकी साहित्यिक प्रयोगशाला की खोज के परिचायक होते हैं। इक्कीसवीं शती के आरंभिक दशकों में सामाजिक जगत पर व्याप्त संदेह व अवश्यंभावी मानवीय जागृति को उपन्यासकारों ने रचनात्मक बनाने का प्रयास किया। पूर्ववर्ती समय की केन्द्रीयताओं को तोड़कर जनता, सत्ता, अधिकार, ज्ञान, राजनीति अस्तित्व आदि की नई परिभाषाएँ लिख देने का व्यापक प्रयास हुआ। इस तरह इतिहास, यथार्थ एवं सामाजिक स्वत्वचिन्तन साहित्य के लिए प्रेरक तत्व बन गए, पर इनके यथार्थ पर कलात्मक होने का दबाव पूर्ववर्ती युग से अधिक वर्तमान है।

"भूमंडलीकृत दुनिया से मुखातिब किसान जीवन की 'आखिरी छलॉग' हो, अंधी न्याय व जातिवादी नीति के सामने अपना फैसला लेने वाले पियारे का 'तर्पण' हो, सहिष्णुता, उदारता और विश्ववन्धुत्व की पूँजी से विदा लेने वाले गाँव से 'अपने घर' जाने वाले महमूद की वापसी हो, सब में साहित्यिक अभियान के लिए अनिवार्य बिंदु मौजूद है। ये भारतीय गाँव के सच भी हैं। शिवमूर्ति की रचनाओं की जनित को तथा भू-प्रकृति हिन्दी प्रदेश, विशेषकर मध्यभारत का कोई भी एक कस्बा हो सकता है। उस प्रदेश की भीतरी और बाहरी प्रकृति, माने स्वभाव एवं व्यवहार इनकी संरचनाओं में पिरोए मिलते हैं। पर वे यूँ ही उस जगह की कहानी को उभारते नहीं हैं, अनुभवों और अनुभूतियों को समेटते हुए ज्ञान एवं साहित्यिक विवेक को मिला देते हैं। पूरी प्रक्रिया में वे अपने प्रदेश व संस्कृति पर उभर आनेवाले संदेहों को बाँटते भी हैं। यह सही है कि अब भी देश एवं जनता को समीकृत करने की कोई उन्नत बोल इस संस्कृति को स्वायत्त नहीं है। अपने समय और समाज के लेखन के संदभों में भी लेखक के सामने सीमाएँ वर्तमान होती हैं। देश, प्रदेश या समाज जब अपनी नैतिकता खोते हैं. उस समय लेखक की उत्कण्थाएँ रचनात्मक रूप लेती हैं। देश के स्वत्व में किसानी संस्कृति का मूल्य निहित था। उसकी धड़कनें धीरे-धीरे लुप्त होते देखकर उपन्यासकार किसान की कहानी में देश की आखिरी छलॉग रचित रखता है। जैविकता की तरफ मुड़ती शैली व आख्यान, अपने अर्थ में गतकालीन औपन्यासिक समृद्धता के युग की स्मृमियाँ जगाते भी हैं।"[8]

'त्रिशूल' में महमूद पर होने वाली ज्यादतियों व अत्याचारों पर 'चुपचाप तमाशा देखनेवाले' नागरिकों पर प्रश्नचिह्न है। यहाँ पर भी मनुष्य संस्थागत वर्चस्व से डरता है। 'हर भला आदमी थाने जाने से बचना चाहता है'। 'छोटी-छोटी घटनाओं और प्रसंगों को उनके मूल संदर्भों से काटकर रूप देने वाले शास्त्री' रूपी धार्मिक उस्ताद का चित्रण भी है। भारतीय जगत में छितरे पड़े इस तरह के जीवन चरित्रों व वहशी घटनाओं को निजस्वार्थ में पका कर धार्मिक पशु, उनका समयानुसार उपयोग करता है। राजनीति इसको बढ़ावा देने का कार्य करती है। समस्त प्रयासों के बावजूद सांप्रदायिक पशुता रोकने में सत्ता और सरकार पराजित होती हैं। बाबरी मस्जिद गिराने की

© Copyright @ Authors

ऐतिहासिक घटना के बाद एक ही परिवार में रहे सदस्यों की मानसिकता एकायक ध्रुवीकृत हो जाती है। सामुदायिक व सामाजिक ध्रुवीकरण के समय पर मनुष्य, अपने आप अंकुशहीन होकर आतंक का उपकरण बन जाता है। मन से वह जानता है कि उसकी तथाकथित धार्मिक करतूत का कोई बौद्धिक आधार नहीं है। पर व्यवस्थागत बंदिशों में पड़कर वह खुद को उसका उपकरण बनाता है, महसूस करता है और अतिजीवन की खातिर समस्त विवेचनों के आगे या तो चुप रहता है, नहीं तो बेहिचक उसमें भागीदार। वहशीपन पलों में वह कभी मनुष्यता अनुभव नहीं करता है।

"शिवमूर्ति की रचनाएँ यही बताती हैं कि मनुष्य विशेष जीवित वर्ग जरूर है। पर यह उसकी उपलब्धियों व ऊँचाइयों के कारण नहीं है, उसकी सीमाओं व त्रुटियों के कारण भी है। एकमात्र मनुष्य ऐसा जीव है जो सोच-समझकर दूसरों को ठेस पहुँचाता है, कई दिनों या वर्षों पहले योजनाबद्ध होकर, हमसफर मनुष्य, समुदाय या रिस्तेदार तक को समाप्त करने के लिए तुला रहता है। रचनाएँ ऐसे मनुष्य-स्वभावों पर धिक्कार का प्रयास भी हैं। समय व संदर्भानुसार वह गिरगिटिया स्वभाव दिखाता है। अपनी लड़की पर चन्द्र द्वारा हाथ उठाने की बात स्वयं पियारे जाकर धरमू से कहता है तो वह सटीक सोचता है। उसे पता है कि चन्द्र ने गलत किया है।"[9]

पर उसके मन में इस सटीकता से बढ़कर दूसरी बातें अटक जाती हैं-'वे यह जरूर मानते हैं कि लड़की पर हाथ नहीं उठाना चाहिए था। यह उसकी मूर्खता है। पर अब डॉटने-डपटने से लड़के का मनोबल गिरेगा।' यह उसके भीतरी सच का एक अंश है। उसका बाहरी सच कुछ और बता देने को झिझकता नहीं है- 'मैंने भी ललकार दिया कि पहले अपनी बिटिया का चाल-चलन सुधारो तब दूसरे पर थूकने चलो।' आगे बढ़ाचढ़ाकर मामला दर्ज कराने पर पियारे के बाहर भीतर के सचों में यही अन्तर, दूसरे ढंग में दिखायमान है। मनुष्यों की डॉवाडोल नैतिक स्थितियाँ उनके द्वारा स्थापित न्याय, नीति, परिवार, धर्म, पुलिस, अदालत, जेल, सेना जैसी संस्थाओं में जबर्दस्त विद्यमान हैं, जिनसे कोई बच नहीं पाता। भोलो व उपेक्षिता लवंगी इस व्यापक सच को प्रस्तुत करती भी है- 'चन्दर से तो बच गई। अब थाने के सिपाहियों से बच जाए तो जानें।' आगे जेल पर 'जेल में औरत की बस जान नहीं निकालते। बाकी सब करम कर डालते हैं।' या सेना पर 'इस बार टोले की कोई औरत दूध देने तम्बू नहीं जाएगी। अपनी इज्जत अपने हाथ' आदि में भी मनुष्य निर्मित संस्थाओं की स्त्री विरोधी रवैयों पर खुलासा है। जुल्म को जुल्म मानने के बदले धारा के अनुरुप बनाकर प्रस्तुत करना पुलिस व अदालत के लिए अनिवार्य है तो उसके तहत मामला आगे बढ़ाना वकीलों की हिकमत का कार्य है, जिसके बिना कोई सजा का पात्र नहीं होता। स्पष्ट है कि जाति, धर्म, धन और राजनीतिक प्रभाव पर अदालती निर्णयों को लाया जा सकता है, मोड़ा जा सकता है। इसी खातिर मामला होने पर पंडित सबसे पहले जज की जाति की पूछताछ करता है।

© Copyright @ Authors

यह सिर्फ पंडित की मनोदशा नहीं है. आज के अवसरवादी, स्वार्थी एवं विकट मनुष्य की यही मानसिकता है, जो नैतिकता से बढ़कर व्यावहारिक नतीजों को हड़प रखना चाहती है। जिस देश में निरपेक्षता के लिए नियम एवं प्रावधान बनाया जाता है, वहाँ पर सर्वाधिक नियमों का दुरुपयोग होता है. तो नियमों से जनता का भरोसा ही चला जाता है। निराधार व निर्मित जाति व्यवस्था के विवेचनों को रोकने खातिर बनाए गए नियम, उनके रोकथाम में कितना सक्षम है. विपरीत में कितना खतरनाक है, यह देखा नहीं जाता। पंडिताइन का विचार ही ठीक है कि 'गजब कानून बना रखा है सकार ने, जेब भरने के लिए।' इस महान देश में छेड़खानी के लिए कोई सजा नहीं है। इसलिए छेड़खानी को बलात्कार बनाए बिना चमारिन की इज्जत बचाने की कोई संभावना नहीं दिखती। हो सकता है तो बच्ची को नाबालिग भी घोषित करने के लिए सोचा जाता है। नहीं तो यह उम्मीद करना व्यर्थ है कि अपराधी को सजा हो जाएगी। उपेक्षित, नीच कही जाने वाली इंसान का, इज्जतदार होने का निशाना छोड़ने के लिए नियम को ललकारना पड़ता है और अपना फैसला स्वयं अमल करना होता है।

भले ही यह 'लोकतांत्रिक कानून' के अन्तर्गत स्वीकार करने योग्य बात नहीं है। बाद में पियारे के निर्णय व व्यवहारों से पाठक इसलिए खुश व अस्वस्थ होते हैं कि उनसे उसे वांछित न्याय मिलता है। यदि वह कानून न्याय नहीं तो भी प्रतिन्याय का अहसास उसे आश्विस्त छोड़ता है। पियारे के मन का न्याय, एक सामाजिकता के लिए वांछित न्याय लगता है जिसे न सरकार सुरक्षित कर सकती है, न नीति-न्याय व्यवस्था। 'अपने कलेजे की धधकती आग बुझाने के लिए' वह कानून पर हाथ लगाता है और अपना मंतव्य सुनाता है कि-'बहिन-बेटियों की इज्जत पर डाका डालने वाले को ठिकाने लगाने के लिए भला किसी के ललकारने-भड़काने की जरूरत पड़ती है? अकेले काटा सरकार।' जिस कपट, निर्मित एवं अपराधी अतिनायकत्व की वाँछा चन्दर दिखाता है. उसके ठीक विपरीत में जाकर सीमित इंसानी कम पियारे आत्मसात करता है और बड़े लोगों द्वारा बनाए कानून के आगे आत्म तर्पण के लिए, उनकी जुबान में कहे तो 'पाप का पराश्चित' भुगतने को तैयार हो जाता है। इस तरह वह इंसानियत के साथ सामुदायिक सदस्यता को भी, जरा सा ही सही, आश्वस्त छोड़ता है। अशिक्षित-देहाती की अर्धांगिनी, मुन्ना की माँ भी 'अब इसे मत रोकिए वकील साहब। इसी में इनकी मुक्ति है।' कहकर नाटकीयता को बरकरार रखती है जिससे हर पाठक अभिलाषा पूर्ति की साँस लेता है।

"घिनौने अपराधों की अधिकता एवं व्यापकता से अपराध एवं अपराधी को अभूतपूर्व जनप्रियता और जनानुमति हासिल होती है। राजनीतिक अपराध, विशेषकर घूस एवं घोटालों से भरे प्रशासनिक एवं राजनीतिक जगत में नेताओं का जेल जाने व छुड़ा देने का जश्न मनाया जाता है।

© Copyright @ Authors

चन्दर की यह मानसिकता भारतीय युवकों की अतिनायकीय व्यवहारों से मेल खाती है। किसी अपराध पर जेल जाने पर नेता का नाम बन सकता है, आगे वे हमेशा के लिए दल, धर्म, जाति या झुण्ड के लिए 'नायक' बन सकता है। इस सम्भावना को देखकर चन्दर जेल से छुड़ा देने पर गाँव वापस जाने के लिए खुली जीप के लिए पूछता है। वह चाहता है कि उसकी जीत को ऐतिहासिक घटना बनाए। आगे बन्दूक लेकर उसकी हरकतें भी इसी मानसिकता का विकास ही है।"[10]

इतिहास एवं राजनीति से आलोचनात्मक सम्बन्ध इन उपन्यासों को एक अलग कोशिश देता है। लेखन एवं वाचन को उपन्यासकार परम्परागत अर्थ की प्रक्रिया नहीं मानता है। राजनीति से जुड़े संदेहों और आशंकाओं को पिरोए बिना समकालीन उपन्यास आगे नहीं बढ़ सकता है। समाज की चकाचौंध और ध्रुवीकृत भीतरी जीर्णता परस्पर विरोधी है। पर शोषक-शोधित द्वन्द्व से यहाँ लेखक खेलता नहीं है। उसके अनुभवपटल में शोषण या शोषित स्थितियों कोई वर्ग प्रतिनिधित्व का स्वभाव भी थोड़ा है। शोषण कोरपोरेट एजेंडा है। समयानुसार जाति, धर्म, वर्ण एवं स्वार्थ उसके उपकरण होते रहते हैं। 'आखिरी छलाँग' किसान की नहीं, उस खेतीबाड़ी सभ्यता की है जिसे समझाने के लिए उपन्यासकार, उसकी सही स्थिति का ठीक जायजा पेश करता है. 'किसान नाम की जाति की विलुप्ति' की वह भविष्यवाणी देता है। यहाँ पर 'किसान' अन्तर्राष्ट्रीय कारपोरेट किसान-बुर्जुआ नहीं है। दो या तीन बीघा जमीन में परम्परागत ढंग में काम करके अतिजीवन करने वाला भारतीय खेतीहर है। पूरे उपन्यास में 'मामूली चपरासी की जिन्दगी भी औसत किसान की जिन्दगी से बेहतर होती है', 'किसानी के पेशे में बरकत नहीं होने वाली' आदि सोच विचार इसी का परिपाक है। ऐसे युग में भारतीय किसान को भिखारी होने का बोध के अलावा कुछ नहीं सूझता है। चिंताओं से पिण्ड छुड़ाने के लिए वह आत्मनिर्णय, माने आत्मबली चढ़ाता है। इस उपन्यासकार के मुख्य पात्र (किसान, दलित या मुस्लिम) अपने आप निर्णय लेने में कोई संदेह नहीं रखते हैं। उनका आत्मविस्तार एवं नागरिक विकास रोकने वाली सभ्यता पर वह ध्वस्त होकर ही सही, थूकने की हिम्मत रखते हैं और अपने आप पीड़ा खत्म करके विजयी होते हैं, स्वार्थ एवं लोभ के आगे निस्वार्थ एवं मुक्ति की नई परिभाषा जोड़कर रखते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि ये उपन्यास उपस्थिति में अपनी गतकालीन समृद्धता के प्रतिनिधित्व के विकल्प भी पेश करते हैं। मुद्रण व प्रकाशन की संभावनाएँ, कथा-विकास एवं लेखन शैली सम्बन्धी वैश्विक रीतियों का परिचय, पुस्तक-बाजार, पैपरबैक संस्करणों द्वारा विपणन-सुविधाएँ आदि से उपन्यास रुपी साहित्यिक स्वरूप 'बिकाऊ माल' प्रोडक्ट बन गया है। वह बाजारी वस्तु भी है। उनसे मिलने वाले मुनाफे की संभावनाएँ तथा यश, परोक्ष रूप में ही सही उपन्यास विधा को बनाए रखने के तत्व बन जाते हैं। दूसरी छोर पर वह अकादमिक शोध का उपकरण भी है। व्यस्त

© Copyright @ Authors

Academe *Journal of Education & Psychology* *ISSN: 2249-040X*
Volume-15, Issue-2, Year-2025 (July-December) *Peer Reviewed & Refereed Journal (IF: 6.25)*
PP: 420-433 *Journal Website www.academejournal.in*

पीढ़ी को पुस्तकों की तरफ आकर्षित करने की वह वस्तु है. पुस्तक-व्यापार एवं विमर्श-विपणन के संसार का अंग भी है। पुस्तक मेलों तथा पुस्तकालयों का प्रचार, उनकी औपचारिक उवं संस्थागत स्वायत्तता आदि ने दूसरी विधाओं की तुलना में उपन्यास को बाजारीकृत उत्पन्न बना देने में पूरी सहायता की। फिल्म या नाटक निर्माण, टी.वी. के विविध आविष्कार आदि की संभावनाओं ने उपन्यास के व्यावसायिक महत्त्व को बढ़ा दिया था। सूक्ष्म वाचन में इस उपन्यासकार इन सबसे अवगत है, चेत है। इसलिए इनमें विधात्मक महत्त्व से बढ़ कर अन्तर्विधात्मक संभावनाएँ पिरोकर रखी हैं। पर वे बुनियादी तौर पर लेखक या उपन्यासकार बने रहने के इच्छुक हैं। इसलिए वे उपन्यास की विधा को कुछ देना चाहते हैं जो उससे कुछ लेते भी हैं। नए परिसरों के अनुसार दूसरे माध्यमों व विधाओं को अनायास लेने-देने की सुविधा इन रचनाओं में सन्निहित है। बताना होगा कि यह अनायासता कोई खुली व दायित्वहीन स्थिति नहीं है। प्राथमिक की दृष्टि से उपन्यास की विशेषताएँ ही सबसे आगे रहती है।

परिणाम और चर्चा :–

आज पुस्तक व्यापार जगत में उपन्यास सबसे अहम भाषिक उपज है, बिकाऊ वस्तु है। जनप्रियता एवं जनोपलब्धता आज कोई बुरी बात नहीं है। इसकी खोज में साहित्यकार ऐतिहासिक घटनाओं, उपेक्षितों, स्त्रियों व दलितों को पात्र बनाकर, साहित्य को विपणन का माध्यम बनाते हैं। यहाँ पर भी उपन्यास सिर्फ उपन्यासकार की वस्तु नहीं है, वह समय-काल-संदर्भ की उपज है। मनुष्य की अग्रगामी आकांक्षाओं से प्रेरित होकर वह निकलता रहता है। अपने यश व नाम के साथ विधात्मक प्रगति को परखते हुए निकलने वाली रचनाएं आवश्यक हैं, जिनमें सबको मिला देने वाला कला कौशल की आवश्यकता है। इस तरह की साहित्यिक प्रयोगशाला से निकलने वाली रचनाएँ ही समकालीन संदर्भ को प्रभावित करती हैं। स्त्री या दलित उत्पीड़नों पर प्रस्तुत होने वाली रचना कई दफा, उन्हें 'उत्पीड़न के योग्य' ठहराने का अपराध भी कर डालती है। इसके विरोध में जाने के लिए विशेष से सामान्य और सामान्य से विशेष की कलात्मक यात्रा को अख्तियार करनी होती है। शिवमूर्ति इसी का प्रयास करते दिखते हैं। "विषय एवं प्रस्तुति में ज्ञानात्मक परिवर्तन का यह समय है। आधनिकता की भावुकता को ये उपन्यास कई अर्थों में ठुकराने का प्रयास करते हैं। इसलिए औपन्यासिक पटल अनिश्चितताओं से आगे जाता है और भाषा व प्रमेय में कायापलट करता है। काल के सम्मुख होती रचना का दायित्व बहुमुखी होती है। यथार्थ के नाम पर कोरे वस्तुगत बयान से बढ़कर प्रतीति यथार्थ के माध्यम से बातों को रखने का कार्य साहित्यिक महत्त्व बढ़ाता है। ये दोनों, एक दूसरे के विपरीत भी उभर आ सकते हैं। द्वन्द्व पक्षों को संभालते हुए रचनाकार का पक्ष तंरगायित प्रकट होता है जिससे उसकी साहित्यिक दृष्टि स्पष्ट होती है।"[11]

© Copyright @ Authors

समकालीन उपन्यास मीडिया के करीब जा चुका है। आख्यान व प्रत्याख्यान में वह मीडिया के समस्त चरित्र आत्मसात करता है। कई लघु-आख्यानों में विकसित कथागतियों द्वारा वह औपन्यासिक महिमा का वहन करता है। कई संदभों पर क्रियात्मक भाषामैलियों के बल पर हरित पुश्यास और रूप निर्माण की संभावना कायम करता है। पर यह भी अनिवार्य है कि समकालीन के सामने सबसे बड़ा संकर भी मीडिया द्वारा आगे रखने वाली चुनौतियाँ ही हैं। ये सिर्फ लेखन वाचन और आस्वादन को ही नहीं स्वत्वस्था विनिपर्व प्रसार की भी है। लेखन के पहले ही उपन्यासकार के सामने कई ऐसे संकट उभर आते हैं जिनमें सबसे अहम है तकनीक एवं प्रौद्योगिकी का अभूतपूर्व प्रभाव, जो समकालीन मनुष्य जीवन को घेर लेता है। रूप, शैली एवं कथाकथन को तैयार करते समय उसके सामने हर दिन की अखबारी खबरें हैं, जो साहित्य एवं कला के यथार्थवाद को बहुत पीछे का उदय, पारिस्थितिक संकट आदि की पृष्ठभूमि में यथार्थ समस्याओं को उभारने छोड़ देती हैं। थल-काल के फासलों का संकोच विश्वजाल का प्रसार, जैव-तकनीकी का प्रयास एकदम आधा-अधूरा रहने का पूरा क्राइसिस है। विपरीत में देखा जाय तो उपन्यासकार को और उत्तेजना देने व नवमार्ग निर्माण के लिए प्रेरित करने में भी ये सहायक हैं। क्योंकि ये चुनौतियाँ पुरानी से भिन्न ही नहीं, आत्मविमर्श को जागृत करने वाली भी हैं। समकालीन उपन्यास इस प्रसंग में अतीत के उपन्यासों का भी विमर्श खड़ा कर देता है और उसमें साहित्य एवं संस्कृति का प्रत्याख्यान शरीक करता जाता है। यहाँ पर उसका रचनात्मक मूल्य बढ़ता है, जो कई आयामी होकर अग्रसर होता है। भाषा और शैली के संदर्भ में आज तक गुजरी राहें, अप्रासंगिक बनती जा रही हैं तो आज के उपन्यासकार साहित्य में देशज होने रहने की ओर जा रहे हैं, हर प्रयास में नव होने का आग्रह करते हैं। यह रचनात्मक नैरन्तर्य के लिए अनिवार्य खाद है। विशेष ज्ञानमण्डल, सांसारिक दृष्टि, सामाजिक एवं ऐतिहासिक अनुभव ये सब मिलाकर वर्तमान को देखने और विश्लेषित करने की क्षमता इन उपन्यासों में है। इस परिप्रेक्ष्य में उपन्यास भविष्य के लिए नई दृष्टि बॉटने वाला संवाद-स्थल बनता है। इसी कारण से ये उपन्यास हमेशा भाव और रूप परिवर्तन करते रहते हैं। उपन्यासों के विविध उदाहरणों से गुज़रने वाला पाठक, विधात्मक संज्ञा के अलावा उनमें कुछ भी समान नहीं देख पाता है। मनुष्य जीवन को इस तरह दैनंदिन, विस्तृत और बहुविध देखने की कोई दूसरी कला नहीं मिलती है। अतः उपन्यास हमेशा खुलने, छितरने और व्याप्त होने की कला है। अधिकार, सत्ता एवं पूँजी के साथ धन व धर्म मिलकर लोगों को हाशियाकृत बना देते हैं। अलगाव का उपबोध, समस्त एवं संपूर्ण ढंग में जंजाल जैसा मनुष्य को वलियत रखता है। यहाँ पर होने वाले सभ्यतागत स्मृतिभ्रंश को रोकने के लिए उपन्यास अनन्तिम यात्रा जारी रखता है। शिवमूर्ति के उपन्यासों के संदर्भ में यही देखना है कि ये समकालीन उपन्यास नहीं लिख रहे हैं, ये उपन्यासों में

© Copyright @ Authors

समकालीन हो रहे हैं। इनके आख्यान में घटित यथार्थ, माने इतिहास ही नहीं है, ये घटने योग्य इतिहास, माने कलात्मक उपन्यास रचने का भी उदाहरण हैं।

निष्कर्ष :-

यथार्थ की राजनीति को राजनीति को समझने वाला उपन्यासकार, अयथार्थ की वांछित राजनीति पर भी लिख सकता है जो सृजक का ऐतिहासिक दायित्व है।

अद्यतन युग को अभिभूत करने के लिए ये उपन्यास गृहातुरताओं को समेटते हुए, उन पर गर्व जताते हुए अवतरित नहीं होते हैं। पृथ्वी के अतिजीवन और मनुष्य जीवन की समग्रता समझाने के लिए वे आडम्बरों व अलंकारों को छोड़ देते हैं। धागा खोलकर, दबावहीन होकर अपने वर्णन में आगे बढ़ते हैं। यही समकालीन साहित्य, विशेषकर समकालीन उपन्यास की सौन्दर्यात्मक प्रतिबद्धता है। अतिजीवन के लिए उसे भारहीन होना आवश्यक है। विस्थापन, हाशियाकरण, धार्मिक उन्माद आदि पर लिखते हुए उन्हें गृहातुरता की कृत्रिमता की जरूरत नहीं है। यदि वे गृहातुर लगते हैं तो भी उनमें अकृत्रिम बने रहने की काबिलीयत मौजूद है। समकाल को गतकाल से जोड़ने वाली भ्रमात्मक कल्पना से व्यावहारिक कार्यकलापों तक लेखक को यात्रा करना होता है। मुख्यधारा से प्रतिरोध एवं संघर्ष करते हुए उन्हें अपने साहित्यिक अतिजीवन को सुरक्षित रखना है। अतः यहाँ पर उपन्यास लेखन उसके व्यापक अर्थ में जन-जीवन-निर्माण का साहित्यिक व सांस्कृतिक विकल्प है, जिसमें भावना एवं बोल के साथ आविष्कार की नवता को भी सतत् जारी रखना होता है

संदर्भ सूची :-

1. लंमही, अक्टूबर-दिसंबर 2012 पृष्ठ 232
2. वही, पृष्ठ 323
3. मंच, जनवरी-मार्च 2001 पृष्ठ संख्या 71
4. वही, पृष्ठ 54
5. त्रिशूल, शिवमूर्ति, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1995 पृष्ठ 27
6. वही, पृष्ठ 78
7. तर्पण, शिवमूर्ति राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004 पृष्ठ संख्या 143
8. वही, पृष्ठ 169

© Copyright @ Authors

9. आखिरी छलांग, शिवमूर्ति, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2008 पृष्ठ 88
10. वही, पृष्ठ 96
11. वही, पृष्ठ 136

© Copyright @ Authors